शिक्षा पर सरकारी खर्चः बयाने हकीकत

हृदयकांत दीवान

"हमारे देश में सार्वजनिक शिक्षा पिछले एक दशक से चौतरफा हमले झेल रही है। फिर चाहे मसला शिक्षा की गुणवत्ता का हो, प्रबंधन का हो या फिर सार्वजनिक शिक्षा पर किए जा रहे खर्च का हो। यह दलील दी जा रही है कि सार्वजनिक शिक्षा पर खर्च अधिक और उपलब्धि बहुत कम हो रही है। इससे बाहर निकलने की युक्ति सुझाई जा रही है कि शिक्षा में निजी क्षेत्र की भागीदारी बढ़ाई जाए। यह लेख सार्वजनिक शिक्षा के बारे में प्रचलित कुछ ऐसी ही धारणाओं की छानबीन करता है।"

''शिक्षा पर सरकारी खर्च बढ़ता जा रहा है और सारा पैसा बर्बाद जा रहा है'', यह कई वर्षों से अलापा जाने वाला राग है। जाहिर है अधिक खर्च की यह पीड़ा सरकारी स्कूल के बच्चों पर हुए खर्च की ही है और यह उन लोगों की ओर से ज्यादा है जो अपने बच्चों पर स्कूल की फीस के अलावा ही, इस खर्चे का कई गुणा खर्च कर देते हैं। शिक्षा पर बजट बढ़ाया जा रहा है इसके कुछ पहलू देखना आवश्यक है। बढ़ाया गया यह बजट वास्तव में खर्च के लिए किस हद तक उपलब्ध है तथा खर्च किस प्रकार किया जा रहा है और दूसरा यह कि संविधान की प्रस्तावना में वायदे के आधार पर यह बढ़ाया गया बजट भी कितना उचित है।

यह भी देखने की जरूरत है कि हमारा देश अन्य क्षेत्रों में कितना खर्च कर रहा है व अन्य देशों की तुलना में हमारे देश में शिक्षा पर कितना खर्च होता है। एक और पहलू जिसे देखना होगा, वह है कि प्रति बच्चा खर्च कितना है और रुपये के वास्तविक मूल्य को स्केल किया जाए तो यह खर्च कितना बढ़ा अथवा घटा है। एक और संख्या जो देखनी होगी वह है, जीडीपी के प्रतिशत के रूप में खर्च किस अनुपात में बदला है। यह सारा विश्लेषण हम यहां नहीं करेंगे किन्तु कुछ आंकड़े देखने से बढ़े हुए खर्च का थोथला यथार्थ सामने आ जाएगा।

हमारे देश में शिक्षा का अर्थ व भूमिका

एक जनतंत्र व स्वतंत्र देश में शिक्षा का अर्थ व भूमिका पर विचार करना उपयोगी है। हमारे संविधान की प्रस्तावना हम सबको और जो प्रशासन व्यवस्था गढ़ी जाएगी, उसे इस जनतंत्र के हर व्यक्ति को विचार व आस्था की स्वतंत्रता, जीने का व रोजगार का अधिकार, सामाजिक बराबरी, न्याय व आगे बढ़ने के बराबर मौके देने के लिए, प्रतिबद्ध करती है। हालांकि इनमें से कई जनतंत्र गढ़ने के समय से ही मूल अधिकारों की

सूची में हैं पर वे भी अभी यथार्थ में उपलब्ध नहीं हैं। कई जो मूल अधिकार की सूची में जगह नहीं बना पाए वे दिशा निर्देश बन गए लेकिन वास्तव में ये वे लक्ष्य थे जिस तरफ हमें बढ़ना था/है हालांकि इनमें से कुछ ही लक्ष्य हम सबका व प्रशासन का थोड़ा-बहुत ध्यान खींच पाए हैं। इन दिशा निर्देशों में से एक शिक्षा है। स्वतंत्र होने के 60 दशकों बाद 2009 में बना शिक्षा के अधिकार का कानून कई मायनों में अधूरा व दंतहीन था। पहला तो यह कि इसका दायरा कांट-छांट कर 6-14 वर्ष कर दिया गया था। मानो आगे बढ़ने के बराबर मौकों का वायदा 8 वर्ष शाला में रहने से पूरा हो जाएगा। फिर इसमें किए गए सीमित वायदों के लिए पर्याप्त प्रावधान भी नहीं किए गए। कोई स्पष्टता नहीं कि यह वायदे कैसे पूरे होंगे। बराबर के मौकों के नाम पर 25 प्रतिशत आरक्षण और उसे लागू करने को मुश्किल करता हुआ आवंटन। इतने सारे और इतनी तरह तरह के सरकारी व निजी स्कूल पर कोई रोक-टोक नहीं। इन स्कूलों में उपलब्ध व्यवस्थाओं, इनके बारे में रुख व इनके खर्चों में अंतर बराबरी के मौकों का मजाक-सा लगता है।

परीक्षाएं जल्दी शुरू करनाः सीखना व छंटाई

परीक्षाएं जल्दी शुरू करने का आग्रह बढ़ता जा रहा है। यह कहा जा रहा है कि परीक्षा न होने से पढ़ना व सीखना बंद हो गया है। यह दबाव उन सब अध्ययनों को नकारता है जो दिखाते हैं कि परीक्षाओं से न तो सीखने पर न ही स्कूल पर सकारात्मक असर पड़ता है। हमारा संविधान संवेदना, सहिष्णुता, दूसरों को समझना, उनकी स्वतंत्रता व जीने के ढंग का आदर करना, किसी भी धर्म व उसमें पूजा और साधना के ढंग के रास्ते में रोड़ा नहीं अटकाना व सबके लिए बराबर मौके गढ़ने के प्रयास को बदलने की मांग हम सबसे करता है। इन्हीं पहलुओं को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या के दस्तावेज इस प्रकार के वातावरण निर्माण का आग्रह करते हैं जिनमें बच्चों को संपूर्ण विकास का अवसर मिल सके। स्कूल मात्र पढ़ने, लिखने, किताबी ज्ञान उड़ेलने व रटवाने की जगह न हो बल्कि ऐसी जगह हो जो बच्चों को अपने-आपको व साथियों को समझने का, बचपन के सभी पहलुओं के अनुभवों को सहजता से सीख कर जिज्ञासु व स्वयं सीखने में सक्षम व्यक्ति बनने में मदद कर पाए। बच्चे कितना सीखे के साथ-साथ और शायद उससे ज्यादा आवश्यक यह है कि उनमें आगे सीखने की इच्छा, जोश व सक्षमता कितनी है। परीक्षाओं व परीक्षणों पर अत्यधिक जोर स्कूल के अनुभव को लगातार संकीर्ण बनाता जा रहा है। धीरे-धीरे शिक्षा का अर्थ भी घटकर अक्षर व अंक रटने तक ठहरता जा रहा है। हालांकि वे जो इस तरह की परीक्षाओं को संचालित करते रहे हैं व अन्य राष्ट्रों व राज्यों को इन प्रतियोगिताओं में धकेलते रहे हैं व अपने यहां के स्कूलों को भी इस रास्ते पर चलने को प्रेरित ही नहीं मजबूर भी करते रहे हैं, आज वे ही अपने दस्तोवजों में कह भी रहे हैं कि परीक्षाओं व परीक्षण की संख्या बढ़ाने से सीखने के स्तर पर कोई असर नहीं पड़ता।

ऐसा लगता है कि परीक्षाएं जल्दी शुरू करने का आग्रह इसीलिए भी है कि जो बच्चे नहीं सीख पाए वे वहीं रह जाएं और छांटने की प्रक्रिया जल्दी हो सके। इससे बाकी बच्चों को और तेजी से आगे ठेला जा सकेगा। हर साल कुछ ऐसे बच्चे जिनके लिए शुरू से ही आगे बढ़ने के मौके कम हैं वे अनुपयुक्त शिक्षा के इस ढांचे से जूझते हुए आगे बढ़ ही जाएंगे। उन्हें पुरस्कृत कर उनकी आड़ में ऐसे अन्य बहुसंख्यक बच्चों को छिपाया जा सकेगा। जो लोग तथाकथित बोर्ड परीक्षाओं के यथार्थ से परिचित हैं वे जानते हैं कि इन परीक्षाओं का असर अलग-अलग पृष्ठभूमि के बच्चों पर अलग-अलग है। बच्चों के छंटकर पीछे रह जाने का डर मध्यम वर्ग पर इस कदर हावी है कि वह उन्हें ठेल-ठेल कर हर क्षण किसी-न-किसी प्रदर्शन व दूसरों से तुलना की प्रतियोगिता में ठेलना चाहता है। अन्य बच्चों पर भी यही दबाव डालने का प्रस्ताव परीक्षा के इस आग्रह में छिपा है।

छंटाई का यथार्थ

यह दबाव हमेशा रहा है कि मैरिट पर अधिक ध्यान की आवश्यकता है। कमजोर बच्चे कक्षा को भी धीरे कर देते हैं। इसलिए जल्दी से जल्दी जांच परीक्षाएं शुरू करके बच्चों को तथाकथित स्तर अनुसार छांट लो। जितनी जल्दी हो सके यह तय कर लिया जाए कि कौन गहरी व आगे तक की शिक्षा लेने में सक्षम है और किन्हें छांट कर इस बात

के लिए रख लिया जाए कि वे कोई धंधा सीख लेंगे। घर, समाज व आस-पास की घोर असमानताओं के आलोक में ढांचे की प्रक्रिया का एक ही लक्ष्य है, गरीब व सामाजिक-राजनैतिक दृष्टि से कमजोर बच्चों को स्कूल से अलग करना। पाठ्यचर्या में शुरू से ही यह तय कर देना कि उनके लिए भी सीखने की गति व ढंग वही होगा जो उन बच्चों के लिए है जिन्हें घर में बहुत सी मदद मिल जाती है, बाकी बच्चों को कक्षा में व धीरे-धीरे स्कूल में विमुख ही करता है। खर्चे की चिंता व बच्चों को बाजार में कोई न कोई काम करने योग्य बनाने के लिए यह आग्रह बार-बार किया गया है कि एक न्यूनतम (आवश्यक) पाठ्यक्रम इन बच्चों के लिए हो। इसमें लक्ष्य, तरीके व सब कुछ वैसा होना जरूरी नहीं है जैसे सक्षम परिवारों के बच्चों के लिए होता है। इन्हें किसी भी तरह इतना सिखा दें कि यह बाजार में निचले स्तर के कार्यों को सही ढंग से करने को तैयार हो जाएं। इन्हें ज्यादा समझ, मनन अथवा तर्क करने, अमूर्त अवधारणाएं सीखने व गढ़ने की कोई जरूरत नहीं। इनसे यह अपेक्षा ही नहीं की जानी चाहिए। ज्यादा सोचने-समझने, अमूर्त चिन्तन करने व उच्च अकादमिक पदों तक पहुंचने की कोशिश कर सकते हैं। इसीलिए इनमें से कोई अगर भारतीय प्रशासनिक सेवा की अथवा आई.आई.टी. की परीक्षा में उच्च अंक प्राप्त कर लेता है तो चिंता हो जाती है। उनका मजाक उड़ा कर, घर पर पत्थर फेंककर उन्हें हतोत्साहित करना शुरू हो जाता है। शिक्षा का वर्तमान विमर्श सभी बच्चों को समान मौके देने के दायित्व को जितनी जल्दी हो सके उखाड़ फेंकने पर उतारू है।

मैरिट को मौका देने के इस विमर्श में सम्पन्न व सभ्रांत बच्चों को मिल रही अतिरिक्त कोचिंग, मदद व मौकों का कोई जिक्र नहीं। और इसीलिए इस बात का भी कोई विश्लेषण नहीं कि क्या निजी स्कूल वास्तव में बेहतर हैं।

निजी स्कूल और सरकारी स्कूल

आज यह सामान्य तौर पर कहा जाता है कि निजी स्कूल सरकारी स्कूल से बेहतर है। इस भ्रमक दलील में इनकी विविधता को छोड़ दिया जाता है और तुलना के आधार को भी। आधार दिया जाता है कि निजी स्कूलों में बच्चे ज्यादा सीखते हैं लेकिन यह अधूरे आंकड़ों पर आधारित है। यह इसके बावजूद कि कई अलग-अलग तरह से किए गए अध्ययन यह बार-बार दोहरा रहे हैं कि यदि आर्थिक व सामाजिक विषमताओं के कारकों के लिए आंकड़ों को संतुलित कर लिया जाए तो यह बात पूरी तरह से गलत है। ये अध्ययन कई बार किए गए हैं और उस तरह की जांच परीक्षाओं के साथ जिसमें उन्हीं बातों को जांचा गया है जिनमें भावनात्मक विकास, खुलापन, सामंजस्य जैसे पहलुओं को शामिल नहीं किया गया है। यह चिंता का विषय है कि इस सबके बाद भी क्यों यह कहा जा रहा है कि सरकारी स्कूलों में खर्च अधिक है और बच्चे सीख नहीं रहे हैं अथवा कम सीख रहे हैं।

इस बात को नजरअंदाज नहीं कर सकते कि निजी स्कूलों के प्रति रुझान बढ़ रहा है। किन्तु इसका कारण यह नहीं है कि ये स्कूल सीखने के लिए अच्छी जगह हैं। आज यह भी बात नहीं है कि सभी निजी स्कूलों की बिल्डिंग बेहतर है अथवा उनमें शिक्षकों की संख्या व गुणवत्ता सरकारी स्कूल के शिक्षकों से बेहतर है। कुछेक निजी स्कूलों का, जो कि संपन्न व सभ्रांत परिवारों के बच्चों के लिए ही हैं, ढांचा सरकारी स्कूलों से ढांचे बहुत बेहतर हैं पर अधिकांश का नहीं। और ऐसे भी बहुत हैं जो तो सरकारी स्कूलों से काफी कमजोर हैं। निजी स्कूलों के शिक्षक औसतन विषय ज्ञान, अध्ययन व शिक्षण व बच्चों के प्रति दृष्टिकोण के मामले में भी सरकारी स्कूलों के शिक्षकों की तुलना में बेहतर नहीं हैं। सरकारी स्कूल के शिक्षकों को तो प्रशिक्षण में भाग लेने, साथी शिक्षकों के साथ विमर्श करने का भी मौका मिलता है, लेकिन निजी शाला के शिक्षकों को ऐसा कोई मौका नहीं मिलता बल्कि उनमें से बहुत को हर दस महीने या उससे भी कुछ कम में दूसरी नौकरी देखनी पड़ती है। न कोई निरन्तरता है और न सीखने का मौका। तो फिर क्या कारण है कि न सिर्फ यह बात फैल रही है बल्कि सरकारी स्कूलों से बच्चों का निजी शालाओं की और पलायन बढ़ता जा रहा है।

इस सबके बीच शिक्षक

इस बारे में कई दृष्टिकोणों से बात की जा सकती है। एक तो सरकारी स्कूलों के शिक्षकों का ही दृष्टिकोण है। उनसे चर्चा करें तो कुछ ऐसी बातें सामने आती हैं। यह कि निजी शालाएं अंग्रेजी माध्यम का नाम लेकर बच्चों को आकर्षित

करती हैं। दूसरी बात जो वे कहते हैं वह यह कि प्रशासन हमें पढ़ाने ही नहीं देता, हमारे ऊपर इतने सारे और काम लाद दिए जाते हैं कि हम हर कक्षा में हर समय नहीं रह पाते। एक और बात जो कही जाती है वह यह है कि यहां ठीक से काम करने का कोई मोल नहीं है, जो काम नहीं करते उन्हें कोई कुछ नहीं कहता और जो काम करते हैं, उन पर न सिर्फ और काम लाद दिया जाता है वरन् उनको फटकारा भी दिया जाता है। उनसे पढ़ाने के अलावा कई अपेक्षाएं हैं। वे यह भी कहते है कि हर समय उन्हें कोई न कोई निर्देश मिलते रहते हैं। स्कूल के प्रधान शिक्षक के पास कोई स्वतंत्रता नहीं है। निजी स्कूल में हर कोई आकर प्रधान शिक्षक व स्कूल को बुरा भला नहीं कह सकता हालांकि कम बच्चों वाले निजी स्कूलों में शिक्षकों की दशा दयनीय है किन्तु फिर भी स्कूल की एक जगह है। सरकारी स्कूल पर हर एक रोब चलाता है। कुल मिलाकर एक भयंकर निरुत्साही माहौल है।

जिला अथवा राज्य स्तरीय अधिकारियों से बात करें तो पता चलता है उनके मन में गहरे रूप से यह पैठा है कि शिक्षक पढ़ाना नहीं चाहते। उनमें से अधिकांश ऐसे तरीके ढूंढ़ रहे हैं जिनमें शिक्षक के बिना भी अध्ययन-अध्यापन का कार्य हो सके। उन्हें यह भी लगता है कि शिक्षकों का वेतन बहुत अधिक है और इसलिए उन्हें ज्यादा काम दिया जाना चाहिए। यह सभी धारणाएं पारस्परिक टकराहट के बावजूद उनके दिमाग में एक रहती हैं। सरकारी स्कूल के शिक्षक इस समझ के चलते न तो अपने काम में कोई जोश व मजा ढूंढ़ पाते और न ही पढ़ाने के काम को अपना एक मात्र काम समझ उसमें जुट पाते हैं। व्यवस्था के जंजाल के चलते कोई भी शिक्षक किसी स्कूल से अपना रिश्ता नहीं बना पाता क्योंकि स्कूल में क्या होता है, स्रोतों का उपयोग कैसे होता है, आदि मसलों में उसकी कोई दखल नहीं है। स्कूल, उसके विकास, उसके ढांचे में कोई अपनत्व की गुंजाइश नहीं है। यह भी विश्लेषण का मुद्दा है कि स्कूली ढांचे के बढ़ने के साथ-साथ शिक्षक की व्यक्तिगत पहचान गौण होती गई है और वह एक ऐसे बड़े समूह के हिस्से के रूप में पहचाना जाता है जिसके लिए लोगों के मन में किसी प्रकार की इज्जत नहीं है।

पिछले दो दशक में सरकारी स्कूलों पर स्कीमों व अभियानों के तहत बहुत राशि खर्च की गई है। यह राशि अर्से से छूटी हुई मरम्मतों, ढांचे के विस्तार, बच्चों के उपयोग की सामग्री, शिक्षकों के प्रशिक्षण आदि के लिए खर्च की गई है। साथ-साथ इसी में ही नई शालाओं का निर्माण भी किया गया है। इस सबके बीच में लेकिन शिक्षकों की सामान्य नियुक्ति लगभग बिल्कुल बंद कर दी गई है। एक तरफ से यह जोर कि शिक्षक को जिम्मेदारी निभानी है और उसे इसके लिए तैयार भी किया जाएगा और दूसरी तरफ यह बात कि नए शिक्षक नहीं नियुक्त होंगे। शिक्षकों के प्रशिक्षण पर हुआ खर्च भी किसी विशेष शैक्षिक नियोजन के आधार पर नहीं वरन् हर एक राज्य व हर शिक्षक के लिए बराबर दिन का प्रशिक्षण। यह प्रशिक्षण किन मसलों पर होगा, इसमें किन मसलों पर खर्च होगा और प्रशिक्षण देने वाले कौन होंगे और कहां से आएंगे, इनकी तैयारी कैसे होगी, क्या दिया बजट पर्याप्त है, क्या इसे लचीले रूप में उपयोग कर सकते हैं आदि प्रश्नों पर कोई विचार-विमर्श नहीं व ढांचे के निचले स्तर के लिए अपनी समझ व विवेक के उपयोग की कोई जगह नहीं। इसको ब्यूरोक्रेट्रीक प्रयास को तो विफल होना ही था और इसकी विफलता के साथ-साथ ही केन्द्रीकृत ढांचा अपनी असक्षमता की बात जोर से कहने लगा। इस असक्षमता में ध्वनि इस विचार की नहीं थी कि हमने क्या गलत किया, बल्कि यह कि सब करके देख लिया, इस अधिक खर्चे वाली व्यवस्था को बंद कर सस्ते निजी स्कूलों से ही काम करवाना होगा।

शिक्षा व शिक्षा व्यवस्था

रश्मि शर्मा व विमला रामचन्द्रन ने कुछ राज्यों की शिक्षा व्यवस्था का अध्ययन किया था। इस अध्ययन में कुछ गांवों के सभी शासकीय व निजी स्कूलों का अध्ययन किया था। इस अध्ययन का नतीजा भी यही था कि अधिकांश निजी स्कूल औसत सरकारी स्कूल से अच्छे नहीं हैं। न तो सीखी गई बातों में, न कक्षा प्रक्रिया व गम्भीरता में। इस अध्ययन में विभिन्न योजनाओं व उसके असर को भी देखने का प्रयास किया गया। इसके आधार पर उन्होंने कहा कि ऐसा लगता है कि हर प्रयास में योजना गढ़ने के स्तर से ही असफलता का बीज बो दिया जाता है। यह विश्वास करना तो सरल नहीं है कि ऐसा जानबूझ कर किया जाता है किन्तु योजना बनाने वालों की मान्यताएं व विश्वास

असफलता के इस बीज को जाने-अनजाने डाल ही देते हैं। ऐसा ही कुछ शिक्षा के अधिकार अधिनियम के साथ हुआ। उसकी भावना को ग्राह्य बनाते-बनाते इस कदर तनु कर दिया कि वह विकृत ही हो गई। यदि बाहर से देखें तो ऐसा प्रतीत होता है कि सरकारी शिक्षा व्यवस्था को असफल मान ही लिया गया है और इसकी जिम्मेदारी भी तय करके शिक्षकों की कार्यविमुखता व उच्च वेतन के मत्थे मढ़ दी गई है। शिक्षा के नियोजन व प्रशासन को बेहतर करने व राजनैतिक हस्तक्षेप व दकियानूसी ब्यूरोक्रैटिक निर्णयों को क्लीन चिट दे दी गई है। यदि सरकार बदलना छोड़ भी दें तो भी हर मंत्री अथवा अधिकारी के परिवर्तन के साथ नई-नई स्कीम, नए-नए विचार शुरू होते हैं। पहले शुरू किए गए काम सब बंद, और वे भी बगैर चिन्तन अथवा मनन के। अधिकांश राज्यों की शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् में कम लोग पदस्थ हैं और इन पदस्थ लोगों में से अधिकांश की पदस्थापना नियमित नहीं है। डाइट का हाल तो बहुत ही खराब है। इनमें तो न्यूनतम से भी कम लोग नियुक्त हैं। स्कूल के शिक्षकों को मदद देने के लिए बी.आर.सी. और सी.आर.सी. भी अब नियुक्त नहीं है। कुल मिलाकर निर्देश देने के लिए भरपूर लोग हैं, बहुत से दफ्तर ऐसे हैं जिन्हें हर तरह के भरे हुए जानकारी प्रपत्र, शिक्षक डायरी, आकलन रिपोर्ट आदि सभी चाहिएं किन्तु स्कूल पहुंचकर शिक्षक की मदद करने की कोई व्यवस्था नहीं है। अधूरे मन से हुए इसके प्रयास धीरे-धीरे खत्म होते गए।

विभिन्न स्कूलों में खर्च

यह स्पष्ट है कि किसी अच्छे निजी स्कूल में अथवा सरकार के ही केन्द्रीय अथवा नवोदय विद्यालयों में जा रहे बच्चों को उपलब्ध शिक्षा के मौकों व उस पर हुए खर्च की तुलना सामान्य सरकारी स्कूल से करना बेमानी है। यह पीड़ा कि गरीब बच्चों जिनके पास सरकारी स्कूलों के अलावा कोई चारा नहीं है, उन पर होने वाला खर्च ज्यादा है कितनी जायज है। एक औसत मध्यम वर्गीय परिवार अपने बच्चों की शिक्षा पर बहुत ही कम आकलन करें तो भी सालाना 60-70 हजार रुपये तो खर्च करता ही है। हालांकि इसमें भी बहुत फैलाव है। यह खर्च तथाकथित अंतर्राष्ट्रीय स्कूलों में 6-10 लाख सालाना तक भी हो सकता है। ऐसे में 15 हजार रुपये सालाना कैसे और क्यों अधिक माना जाए यदि हम बराबर के मौकों की बात भी करना चाहते हैं। यह सही है कि हमारे पास हर बच्चे के लिए सालाना 4-5 लाख रुपये खर्च करने को नहीं है परन्तु फिर इन बच्चों की शिक्षा पर हुए खर्च के बारे में कोई सवाल क्यों नहीं? राज्यों की सरकार द्वारा प्रति छात्र खर्च राशि जो 5 से 15 हजार के बीच है वह भी इतना क्यों खलता है?

हम जानते हैं कि निजी सेक्टर की दखल शिक्षा में बढ़ती जा रही है। यह दखल स्कूली शिक्षा से लेकर शिक्षक शिक्षा व उच्च शिक्षा तक जा रही है। यह भी हम देख रहे हैं कि न सिर्फ इस निजी सेक्टर में अनेकानेक स्तर हैं परन्तु यह भी देख रहे हैं कि सरकारी खर्चे में भी अलग-अलग श्रेणी के तहत आ रहे ढांचों पर हुए खर्च में भी और ज्यादा स्तर बन रहे हैं।

और अब यह नई शिक्षा नीति

नई शिक्षा नीति असल में नई नहीं है। यह तो इतने साल से चल रही प्रक्रिया की पराकाष्ठा है। निजी क्षेत्र के स्कूलों को प्रोत्साहन व मदद देने का प्रयास। यह बात ध्यान देने योग्य है कि राजस्थान व मध्यप्रदेश सरकार पिछले दशक में ही सभी *ग्रांट इन एड* संस्थाओं को ग्रांट देना बंद किया है। पहले नियम-कायदे बनाकर इन संस्थाओं के संचालकों को पंगु बना दिया और फिर उन्हें नकारा घोषित कर दिया। ठीक वैसे ही जैसे इनके उच्च अधिकारी द्वारा संचालित ढांचा सरकारी शालाओं के स्थानीय संचालकों पर न तो विश्वास करता है और न ही स्वतंत्र निर्णय लेने की कोई जगह छोड़ता है। इस बड़ी असफलता को उन्हीं लोगों के मत्थे मढ़कर यह नीति चाहती है कि सरकारी स्कूलों को बंद कर दिया जाए। यदि हम विचार करें कि इस नई नीति में किन पहलुओं पर जोर है और इसके क्या आधार समझ आते हैं तो उन्हें इस प्रकार देख सकते हैं:

i. शिक्षा भी बाजार की एक वस्तु है और खरीदी-बेची जा सकती है। शिक्षा पर खर्च कम होना चाहिए और इसलिए बोली लगाकर जो सबसे कम दाम करेगा उसका माल ले लिया जाएगा।

ii. शिक्षा को कुछ कम से कम शर्तो तक बांधा जा सकता है, उसे सीखने की असीमित संभावनाओं के लिए चिन्हित करने की कोई आवश्यकता नहीं। यानी संविधान का वादा भुलाने की आवश्यकता है। उसके लिए हमारे पास संसाधन भी नहीं है और समय भी नहीं।

iii. सरकारी ढांचों को चलाना हमारे बस की बात नहीं है, किन्तु हमें अपने गवर्नेंस व संचालन के ढंग पर गौर करने की कोई जरूरत नहीं। गलती सब व्यक्तिगत है और इसलिए उन्हें हटाना व उनके होने को खत्म करना ही बचता है।

iv. हम बाहर के व अपने स्वयं के अनुभवों से सीखने को तैयार नहीं हैं, जो दिखाते हैं कि हमारे हिसाब से विकसित देश व आगे बढ़ रहे देश (जिनसे हम होड़ में हैं) शिक्षा पर हमसे बहुत ज्यादा खर्च करते हैं। राज्य द्वारा संचालित जनता के लिए शिक्षा व्यवस्था सबसे बड़ा हिस्सा है और कई जगह तो स्कूली शिक्षा की एकमात्र संभावना।

v. निजी संस्थानों का शिक्षा और स्वास्थ्य में भी दखल औसत गरीब और बराबरी विरोधी रहा है और इन्होंने सरकारी नीतियों के तहत मिली छूट का निजी लाभ के लिए भरपूर इस्तेमाल भी किया है।

जिस तरह की संस्था होने की शर्त नई नीति में है, जो व्यापक उद्देश्य लेकर बनी है और शायद इस योजना में शामिल ही न हो, अधिकांश का ढांचा व उसका संचालन तथाकथित निःस्वार्थता छोड़े गरीब व वंचित के शिक्षा के कार्य व लक्ष्य के प्रति ईमानदारी को भी रसातल में धकेलता है। इसीलिए वंचित व गरीब बच्चों के लिए एकमात्र जगह सरकारी स्कूल है। उस पर खर्च कम करना व स्कूल में पढ़ाई-लिखाई के संकीर्ण पहलुओं के सीखने की दर व तरीकों को उन मानकों से निर्धारित करना जो ज्यादा संसाधनयुक्त परिवारों के बच्चों के लिए उपयुक्त है, उन बच्चों के प्रति अत्याचार है जिनके पास न तो संसाधन है और न ही पारिवारिक प्रोत्साहन व मदद। इस परिप्रेक्ष्य में बच्चों को क्या जानना चाहिए व क्या प्रदर्शित कर पाना चाहिए इसकी समझ भी संकीर्ण होती जा रही है। स्कूल के रहने के अर्थ व लाभ का आकलन इन सीमित पहलुओं के आधार पर नहीं हो सकता।

निजी स्कूल सस्ते क्यों

निजी शालाओं के बारे में विचार करते समय दो और पहलू महत्वपूर्ण हैं। एक तो यह कि आखिर कम बजट निजी स्कूल कम राशि में स्कूल कैसे चला लेते हैं और उसमें भी पैसे बचाकर अपने बुनियादी ढांचे का विकास कर लेते हैं और दूसरे यह कि इन स्कूलों में सीखने व समाज की मुख्यधारा के बाहर के बच्चों के साथ किस तरह का व्यवहार किया जाता है। इसके अलावा यह भी प्रश्न है कि इस तरह के मॉडल का अन्य देशों में क्या अनुभव रहा है व इन शालाओं को निर्धारित अनुबंध (एमओयू) व पॉलिसी के तथाकथित सिद्धांतों के अनुरूप काम करने को कैसे प्रेरित किया जाएगा?

किसी भी अकादमिक कार्य में और स्कूल में भी चालू खर्च का सबसे बड़ा हिस्सा लोगों के वेतन व विकास पर होता है और होना चाहिए। आजकल अक्सर ऐसे विश्लेषण किए जाते हैं जिनमें शिक्षकों पर हुए खर्चे की तुलना बच्चों पर हुए खर्चे से की जाती है। इसके पीछे मान्यता यह है कि शिक्षक पर हुआ खर्च बच्चों के सीखने के लिए लाजमी नहीं है।

निजी स्कूलों के सस्ता होने का कारण शिक्षकों के वेतन को दैनिक मजदूरी की दर के तुल्य व उससे भी कम तक ले जाना। न इन्हें काम की निरन्तरता का भरोसा है और न ही पर्याप्त मुआवजा देने की चिन्ता। अधिकांश शिक्षकों की स्वयं के बारे में समझ व उनकी आत्मछवि उन्हें अपने विचारों पर चलने व नए ढंग से खोजने के लिए मौका नहीं देती। इनका ध्यान जिस भी ढंग से और जितने तक भी ट्यूशन व अन्य स्रोतों से अतिरिक्त आय जुटाने पर ही रहता है। निजी स्कूलों के खर्चे का आकलन करते समय हम यह भी भूल जाते हैं कि उन शिक्षकों को अक्सर दस महीने का वेतन मिलता है जो कि कई बार इतना कम होता है कि शिक्षक एक स्वैच्छिक कार्यकर्ता बन जाता है जिसे जीवन-यापन के लिए अन्य साधनों से कमाना ही है। स्कूल से वेतन लेने का एकमात्र कारण है कि शिक्षक बच्चों के

सम्पर्क में रहे ताकि उसकी पहचान हो और इन बच्चों को व अन्य बच्चों को भी ट्यूशन के लिए तैयार किया जा सके। ऐसे में शिक्षा नीति का एकमात्र लक्ष्य शिक्षकों पर खर्चे को कम कर निजी शिक्षा के ठेकेदारों के लाभ को बढ़ाना ही प्रतीत होता है।

शिक्षक व शिक्षा का स्तर

यह बात सभी मानते हैं कि उनके जीवन पर अच्छे शिक्षकों का बहुत प्रभाव है। नीति बनाने वाले भी बचपन की यादों में ऐसे शिक्षकों की याद करते हैं जिन्होंने उन्हें सिखाया व यह भी हम सबको याद है कि शिक्षक ही हमें स्वाभिमान व अपने मत पर रुके रहने का भी व उसे बदल पाने का आत्मविश्वास देते हैं। ऐसे में शिक्षकों के मान व उनके आत्मविश्वास को धराशायी कर उन्हें अनिश्चितता व जी-हजूरीपन में धकेलना कितना घातक होगा इसका अनुमान लगाना संभव नहीं।

शिक्षा के विमर्श में यह भी कहा जाता है कि शिक्षक की गुणवत्ता किसी भी राष्ट्र की शिक्षा व समृद्धि का आधार है। ऐसा बार-बार कहा गया है कि कोई भी राष्ट्र अपने शिक्षकों के स्तर से ऊपर नहीं पहुंच सकता। सभी घोषणाओं में शिक्षक के सम्मानीय होने व उसकी गरिमा की चर्चा होती है किन्तु यथार्थ इसके विपरीत है। सरकारी अधिकारियों व सामान्य लोगों के मन में और मुख पर भी अन्य सभी व्यवसायों के कर्मशियल होने से उतनी गहरी त्यौरी नहीं पड़ती जितनी शिक्षकों के वेतन व सुविधाओं की चर्चा से। यह हवा में है कि शिक्षक को त्यागी, सहनशील व कम में गुजारा करने वाला होना चाहिए। इसका निहितार्थ स्वभाविक है, शिक्षक बनने का लक्ष्य रखना उपयोगी नहीं है क्योंकि अन्य व्यवसायों में भुगतान की ज्यादा बेहतर शर्तें हैं। ऐसे में अधिकारियों व राजनेताओं का यह रोना कि शिक्षक अच्छे नहीं हैं और यह भी भुला देना कि शिक्षक चयन में ढील अक्सर उन्हीं के कारण है, नाजायज़ है। जो लोग इच्छा व जोश से शिक्षक बनते हैं वे भी धीरे-धीरे यह सब खो बैठते हैं। नीति के बोली लगाने के सिद्धांत व निजी संस्थाओं को बड़े पैमाने पर स्कूल सौंपने की योजना न सिर्फ शिक्षक के पद व दर्जे को सशक्त करने के खिलाफ है वरन् लोकतंत्र व संवैधानिक वायदे के पूर्णतः खिलाफ प्रतीत होती है।

क्या शिक्षा की गुणवत्ता का आधार मात्र खर्चा नियंत्रण है

निजी हाथों में सौंप कर एक ब्यूरोक्रेटिक जांच समिति बनाकर सरकार कह रही है कि शिक्षा की गुणवत्ता व उसके स्वरूप में उसकी कोई रुचि नहीं। खर्चे कम हों व कागज पर ठीक से वर्णित हो यही पर्याप्त है। वह लोकतांत्रिक शिक्षा को सीमित कर साक्षरता में बदलना चाहती है। शिक्षा का फैलाव जरूरी था और वह हुआ भी किन्तु बराबर स्तर के मौकों के वायदे को हमेशा भुला सा दिया गया। कभी भी पर्याप्त खर्च की योजना नहीं बनी। जो योजना बनी भी उतना खर्चा भी नहीं क्योंकि या तो राशि उपलब्ध नहीं की या आवश्यक मदों को खर्चे के संभावित दायरों से बाहर रखा गया था। जो खर्चा हुआ भी वह भी केन्द्रीकृत निर्धारण के अनुसार व बहुत बार उसी स्तर से किया गया। बढ़ते खर्चे का यह रोना तो सच नहीं ही है और इस मसले पर खर्चे के बेसर होने का अपनी जिम्मेदारी को भी सरकार नकार रही है।

सवाल यह भी है कि निजी शालाएं ठीक से काम करेंगी, वे लोकतांत्रिक मूल्यों को निभाएंगी व प्रमुखता से आगे बढ़ाएंगी, सभी बच्चों को अपनापन व सीखने के बेहतरीन और समतुल्य मौके देंगी या नहीं? वे अपने कार्य करने के ढंग में सुधार कैसे करेंगी व कैसे अपने बच्चों व उनके परिवारों से जुड़ पाएंगी, यह सब वे सवाल हैं जो हमारे सामने हैं। कैसे इन स्कूलों में बच्चों द्वारा गुजारे गए समय की अवधि व सार्थकता बढ़ेगी व मॉनिटर की जाएगी, हमारा प्रशासन जो कि सरकारी स्कूलों को ही गंभीर व सीखने के लिए तैयार नहीं कर पाया वह निजी शालाओं में क्या करेगा? रश्मि व विमला की किताब व तारा बैते का अध्ययन बार-बार यह सामने लाता है कि शिक्षा व्यवस्था का हमारा ढांचा 'अनाधिकृत मांग' के तेल से चलता है।

यह व्यवहार कि हम तो लाभ उठा लें लेकिन बदले में किसी को कुछ न दें केन्द्रीकरण के साथ बढ़ता ही जाता है। अधिकांश स्कूल चलाने वाली निजी संस्थानों जो कम से कम की बोली लगाकर स्कूल लेंगी उनकी प्रकृति किस प्रकार की होगी यह भी किसी को स्पष्ट नहीं है, ऐसे में नीति का कोई सुनिश्चित कारण समझ नहीं आता। सवाल यह होना चाहिए कि सरकारी स्कूल व्यवस्था को कैसे ज्यादा व्यापक, सार्वभौमिक व गुणवत्तापूर्ण बनाया जाए न कि कैसे इनका विकल्प खड़ा किया जाए। ◆

संदर्भ

1. Preamble, The Constitution, Government of India.
2. Private schools are no panacea, Draft Report, October 2013, http://azimpremjifoundation.org/ pdf/ School%20Choice%20Prelim%20Report.pdf;
3. Nayantara Nath, Per child funding formula, June 2014 CCS internship files. Wordpress.com/ 2014/06/315

   (अ) राजस्थान में वर्ष 2008-2013 तक NSDP के अनुपात में शिक्षा के लिए बजट का आवंटन स्थिर रहा है। उच्च प्राथमिक व माध्यमिक शालाओं की बड़ी संख्याएं वेतन आयोगों के आलोक में बढ़ते व्यय के और रुपये की घटती क्रमशक्ति के बावजूद।

   (ब) भारत में प्रति छात्र GDP के per capita के प्रतिशत के रूप में सरकार बहुत कम खर्च करती है। यह 13.3 प्रतिशत पर सभी BRICS देशों से कम है और विकसित देशों की तुलना में बहुत कम। ग्रेट ब्रिटेन का खर्च 33 प्रतिशत है।
4. Sharma, Rashmi (2009). The Internal Dynamic. In Sharma and Ramachandran (2009). The Elementary Education System in India: Exploring Institutional Structures, Processes and Dynamics. Routledge.
5. Béteille Tara (9) Absenteeism, Transfers and Patronage: The Political Economy of Teacher Labor Markets in India, Stanford University Phd Dissertation
6. Sharma, Rashmi and Ramachandran, Vimla (2009). The Elementary Education System in India: Exploring Institutional Structures, Processes and Dynamics. Routledge
7. Assorted figures and graphs from various sources available on one site on the web System reform paper, NCERT
8. Anurag Behar, Cost of privatized education, Mint, 17 June 2015
9. Reports of Joint Review Missions on Teacher education (various), *http://www.teindia.nic.in/jrm.aspx*
10. Report of the International Conference on Teacher Development and Management held in Udaipur, 23-25 February, 2009
11. Report of the International Conference on Pre-service Elementary teacher education held in NCERT, Delhi, 2-4 February, 2010
12. Report of the International Conference on Issues in in-service development of elementary teachers held in Bhubaneshwar, Orissa, October 2010.
13. Report of DPEP in Karnataka (Unpublished), *Understanding Pedagogical Interventions, 2002,* Principal Investigator, H.K. Dewan, Vidya Bhawan Society
14. Report of DPEP in Tamil Nadu (Unpublished), *Understanding Pedagogical Interventions, 2002,* Principal Investigator, R.K. Agnihotri

लेखिका परिचयः विद्या भवन सोसायटी में शैक्षिक सलाहकार, देश भर में स्कूली शिक्षा को बेहतर बनाने की दिशा में सक्रिय रूप से संलग्न हैं। वर्तमान में अजीम प्रेमजी यूनिवर्सिटी, बैंग्लोर से जुड़े हुए हैं।